Chapter-1

प्रथम अध्याय

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' व्यक्तित्व के विविध आयाम :

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' नवगीत के प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में प्रतिष्ठित हैं, किसी भी साहित्यकार की रचनाओं पर उसके पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता है, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के कृतित्व में उनके पारिवारिक संस्कारों की गौरवमयी सुगन्ध है तो उनके आंचलिक परिवेश की उदात्त वैचारिक का सरल व्यवहार भी है। इन्द्र जी का अधिकांश समय उत्तर-प्रदेश की आंचलिक संस्कृति से सम्बद्ध रहा है, इसमें भी ब्रजभूमि के सरस और रागात्मक परिवेश का प्रभाव तो प्रत्यक्ष ही परिलक्षित होता है।

'इन्द्र' जी का जन्म आगरा के नगला अकबरा गाँव में हुआ था, जो ब्रजभूमि के सन्निकट होने से वहाँ ब्रजसंस्कृति का व्यवहृत सारल्य सर्वत्र आभासित होता है। साथ ही मुगल संस्कृति की तहजीव भी वहाँ देखी जा सकती है, जिसने वहाँ भी भाषा और कला-कृतियों को प्रभावित किया है। साहित्य के रूप में भी उर्दू और हिन्दी का जितना परिमार्जित और सौष्ठव-रुप इस अंचल के इर्द-गिर्द देखा जा सकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

'इन्द्र' जी का बचपन इसी उदारवादी सांस्कृतिक नगरी में पल्लवित हुआ, जहाँ का साहित्यिक और कलावादी उदात्त संस्कार उन्हें विरासत में प्राप्त हुए था।

यहाँ उनके साहित्य के मूल में उद्भूत प्रेरणा की पृष्ठभूमि में पल्लवित उन सभी परिस्थितियों का संक्षिप्त में अनुशीलन करेंगे जो आगे चलकर उनके कृतित्व को समझने में सहायक सिद्ध होंगे।

देवेन्द्र शर्मा इन्द्र का बाल्यपन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक की जीवन यात्रा अत्यन्त संवेद्य और उदार पृष्ठभूमि से सम्पृक्त रही है। इसलिए उनकी जीवन संबंधी प्रमुख घटनाओं का अवलोकन करना समीचीन ही है।

1) जन्म तिथि - 01-04-1934
2) जन्म स्थान - नगला अकबरा पोस्ट रुनकुता, आगरा
3) पिता श्री का नाम - श्री मेवा राम शर्मा
4) माता श्री का नाम - (स्व.) श्रीमती द्रौपती देवी शर्मा
5) धर्म पत्नी का नाम - (स्व.) श्रीमती लक्ष्मी देवी शर्मा
6) इनकी शिक्षा - एम.ए.(हिन्दी) एम. ए. (संस्कृत) साहित्यरत्न

वंशावली

घनश्याम

↓

लच्छीराम

↓

बिहारीलाल

↓

भूरीसिंह

↓

ज्ञानीराम (चेतराम, घूरेलाल दोनों उपनाम थे)

↓

मेवा राम

↓

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

↓

राजीव	अनामिका	नीहारिका	संजीव		अभिषेक
↓	↓	↓			↓
रोहन	नीलांजना	विक्रान्त	श्रेया	सूर्या	अभिराम

जीवन की प्रमुख घटनाएं

वाल्यापन

जब यह और इनके अनुज गिरिराज किशोर क्रमशः 6 और 12 वर्ष के रहे होंगे, तब उन दोनों की असावधानी से घर से दूर जहाँ इनके पशु बधते थे, वहाँ एक अन्नशाला थी और जहाँ इनके पितामह तथा पितृत्व रहते थे। बाजरा की बालें भूनते समय छप्पर में आग लग गयी थी। उस अग्निकांड में जो कुछ था, वह अग्निसात् हो गया। आग बुझाने में पूरा एक दिन लग गया था। किसी प्रकार ग्राम वासियों द्वारा दोनों भाइयों को बचा लिया गया था। पितामह उस समय मंदिर में पूजा कर रहे थे। समाचार मिलने पर उठकर नहीं आये थे। पूजा के पश्चात लौटने पर उन्होंने उन दोनों भाइयों को डाँट-फटकारने की वजाय गले से लगा लिया था।

लगभग एक वर्ष बाद 'इन्द्र' जी के पहलवान चाचा धनीराम शर्मा जिस दिन 5-7 गाँवों के पहलवानों के दंगल में कुश्ती जीतकर आये थे। गाँव के लोग पितामह को बधाई देने आये थे। उन्होंने उन लोगों से कहा था कि कुछ दिन बाद तुम मेरे इसी बेटे के लिए रोने आओगे। संयोग से एक वर्ष बाद ही इनके चाचा की मृत्यु हो गई थी। तत्पश्चात पितामह ने अपने विषय में भी कह दिया था - ''हम भी कुछ दिन के मेहमान हैं।'' और सन् 1942 की करवाचौथ के दिन उनका स्वर्गवास हुआ था। इससे भी बड़ा संयोग यह हुआ कि ठीक एक वर्ष बाद उसी दिन (करवाचौथ) 'इन्द्र' जी के छोटे भाई शिव-शंकर का घर में पुत्र जन्म हुआ था। ये ऐसी घटनाएँ हैं, जिनसे ये आजतक अपने पितामह के अलौकिक व्यक्तित्व को भूल नहीं पाये। वे ब्रजभाषा के आशुकवि भी थे। जमींदराना ठसक साधुस्वभावोचित निस्पृहता तितिक्षा और काव्य प्रतिभा की त्रिवेणी उनमें सतत् प्रवाहित होती रहती थी। बिहार का भूकम्ब, नवा खाली और पंजाब का विभाजन पूर्व परवर्ती नर-संहार तथा स्वतंत्रता प्राप्ति का दिन और तदन्तर राष्ट्रपिता गांधी का अवसान इनके बचपन की ऐसी घटनाऐं हैं, जिन्हें ये भूलकर भी नहीं भूला पाते।

युवावस्था के प्रमुख प्रसंग

यौवन की घटनाओं में सर्वाधिक प्रसन्नता उन्हें उस दिन हुई थी, जब इनके बड़े मामा जी स्व. देवकीनंदन शर्मा ने इनके बी.ए. का परीक्षाफल विश्व-विद्यालय से आकर बताया था। 'इन्द्र' जी विश्व-विद्यालय भर में कला-संकाय में सर्व-प्रथम आये थे। तब आगरा विश्व-विद्यालय की सीमाओं में राजस्थान, मध्यप्रदेश और लखनऊ, इलाहाबाद

विश्व-विद्यालय और बी.एच.यू. के अतिरिक्त उत्तर-प्रदेश के सभी कॉलेज आते थे और परीक्षा आज की भाँति खण्डों में न होकर सीधे फाइनल वर्ष में ही हुआ करती थी। ये अपने कॉलेज-जीवन में प्रौढ़-प्रध्यापकों के स्नेहभाजन रहे, तो युवा प्राध्यापक इनके प्रति मित्र भाव रखते थे। अतः समय से पूर्व अतिरिक्त गंभीरता इनके स्वभाव का अंग बन गई थी। खेलकूद, एन.सी.सी. या आशिक् मिजाजी के लिए इनके पास फालतू समय ही नहीं था। विश्व-विद्यालय से प्राप्त वजीफे, ट्यूशनों और कवि-सम्मेलनों, पत्र-पत्रिकाओं से मिली मानदेय राशि से बड़े परिवार के संचालन में पिता जी का सहयोग करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे।

'इन्द्र' जी प्रारम्भ से ही अपनी प्रखर मेधा-शक्ति विद्यानुरागी व अभिवादनशील रहे हैं और सद्गुणों के कारण गुरुजनों के विशेष अनुग्रह-भाजन रहे हैं। प्राईमरी के सेवानिष्ठ आदर्श प्रधानाचार्या पिता पं. मेवाराम शर्मा का यह पुत्र उन्हीं की भाँति श्रेष्ठ जीवन मूल्यों से आलोकित है। जन्म-दात्री माता की भाँति माँ सरस्वती ने भी उन्हें बचपन से ही स्नेह प्रदान किया है। किशोरवय में ही उनके मानस मन में कविता की लय-लहरियों का उन्मेष होने लगा था। बारह-तेरह साल की उम्र में जब आठवीं कक्षा के छात्र थे, कविता का पहला स्रोत जनाक्षरी छन्द के षेप में बह निकला था।

दो वर्ष बाद एम.ए. (हिन्दी-1956) करते ही उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा आगरा में विशारद और साहित्यरत्न की कक्षायें पढ़ाने का अवसर मिला। तभी कुछ दिनों के लिए किशोरी रमण कॉलेज मथुरा में लग-भग तीन महीने तक हिन्दी प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। वहाँ से लौटने पर आगरा में इनकी दादी जी का देहान्त हो गया। जिनको 'इन्द्र' जी ने मुखाग्नि प्रदान की। तभी ये घर वापस आते-आते ज्वर ग्रस्त हो गए और लग-भग महीने भर तक निमोनिया तथा टायफायड से जूझते रहे। थोड़ा स्वस्थ होते ही आगरा कॉलेज के हिन्दी-विभाग में तत्कालीन अध्यक्ष महोदय गुरुवर प्रो. जगन्नाथ जी तिवारी के आशीर्वाद से इनकी नियुक्ति हो गई। सर्व श्री कमलेश्वर जी, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, रामगोपाल सिंह चौहान, तारकनाथ बाली आदि के विभागीय सहयोगी बन गये। घनश्याम अस्थाना उन दिनों अंग्रेजी के प्रध्यापक थे, जिनसे इनकी काव्यात्मक सन्निकटता सर्वाधिक रही। इन सभी मित्रों सहकर्मियों के संग-साथ में इनका लेखन अध्यापन कार्य चलता रहा। उसी दौरान इन्होंने 1959 में संस्कृत में एम.ए. कर लिया। तब इण्टर की कक्षाएँ भी कॉलेज में होती थी। इन्द्र जी एम.ए., बी.ए. के साथ-साथ इण्टर वाले विद्यार्थियों को भी पढ़ाते थे, उन दिनों इण्टर कक्षाऐं हटाने की योजना चल

रही थी। अतः विभाग में छटनी होते समय कनिष्ठ होने के नाते इनकी जीविका खतरे में आ सकती थी। अतः आगरा कॉलेज से त्याग-पत्र देकर अगस्त 1961 में जे.वी.जैन कॉलेज सहारनपुर चले गये।

आगरा में उन दिनों परिवार में छोटे-छोटे भाई-बहन पढ़ रहे थे और माता जी अस्वस्थ रहती थी। और एक दिन उसी अस्वस्थता के चलते उनका निधन भी हो गया। अतः अब उनके सामने आगरा आने का प्रश्न था। संयोग वश तभी हाथरस के पी.सी. बांग्ला पोस्ट गेज्युएट कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष पद पर कार्य करने के बाद पुनः आगरा कॉलेज में ही प्रध्यापक के रूप में लौट आये। स्थायी नौकरी की व्यवस्था भी हो गई थी। और तीसरे क्रम वाले भाई का विवाह भी हो चुका था। इनके चौथे क्रम का भाई उन दिनों हिन्दी के बाद संस्कृत से एम.ए. कर रहा था। उन दिनों तक इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ जन्म ले चुके थे। इनकी छोटी पुत्री मानसिक रूप से अविकसित रह गयी और शायद जीवन-भर बोल नहीं पायेंगी। विधि की विडंबना कि जहाँ इनकी बड़ी बेटी पिता के अनुसार अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि व मेधावी है वहीं छोटी बेटी को दैव की ओर से अल्प-बुद्धि अथवा अविकसित मानसिक मस्तिष्क ही मिल पाया है। लेकिन विधाता के असंतुलन को पिता ने अपने स्नेह के प्रसंग द्वारा संतुलित करने का प्रयास कर दिखाया है। बड़ी जो छात्र जीवन में कॉलेज एवं विश्व-विद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करती रहीं है। आज एक विद्यालय में अध्यापिका है। अपनी सिद्धान्तवादिता के हठ के कारण उनके कैरियर को अग्रसर करने हेतु आपने अपने प्रभाव का तनिक भी प्रयोग नहीं किया। किन्तु अर्द्ध विक्षिप्त मूक तथा अबोध नीहारिका (गोले) पर उन्होंने अपना पूरा स्नेह ही उड़ेल दिया। तन-मन दोनों से निरन्तर उसके लालन-पालन के बन्धन में स्वयं को सहर्ष बाँधें रखे हैं। भले ही इस बन्धन से उनकी स्वयं की गतिशीलता क्यों न दुष्प्रवाहित होती रही हो ? परन्तु अपनी इस प्रिय पुत्री को किसी की दया का पात्र नहीं बनने दिया। 44 वर्षीय गुमसुम 'नीहारिका' जिसे प्यार से 'गोले' कहते हैं। 'इन्द्र' जी के घर आने-जाने वाले सभी साहित्यकार गोले के स्वभाव से पूर्णतया नहीं तो अंशतः परिचित अवश्य हैं। जन्म के बाद छह मास से मानसिक रूप से विक्षिप्त उनकी यह बेटी उनके घर पहुँचते ही उनके पैरों पर झूलने लगती है। पहली बार उनके घर आने वाला उसके स्वभाव से अनभिज्ञ कोई भी व्यक्ति प्रायः उससे भयभीत हो जाता है। किन्तु गोले जब भी आक्रमण करती है, तो इन्द्र जी पर। कई बार घर का दरवाजा तोड़ती है, रंगीन पत्रिकायें फाड़ती है, बर्तन पटकती तथा इन्द्र जी के शरीर को नाखूनों से नोंचती हैं। कपड़े फाड़ने तथा कई बार

नाखूनों से घायल होने के बावजूद पिता की खीझ भरी आँखों से वात्सल्य ममता ही झरती है।

वर्तमान की –

इनका मानना है कि मनुष्य होना साहित्यकार होने से बड़ा काम है। अक्सर बातों में 'नीहारिका' को लेकर उनकी गहरी चिन्ता तथा अवसादजन्य निराशा ही उन्हें हाथ लगी है। तथापि वे हारे नहीं, थके नहीं, अस्वस्थ होकर भी टूटे नहीं। ये ऊपर से संतुष्ट तथा भीतर से गहरी निराशा व विवशता की संवेदना में लिपटे हुए पाये जाते हैं।

इन्द्र जी का सारा जीवन नगर–महानगर में ही बीता है। जीवन की समस्त विद्रूपता और विडम्बनापूर्ण परिस्थितियों को उन्होंने भोगा है, झेला है, सहा है फिर भी उनकी प्रकृति में गाँव की सहजता, सरलता की मोहक सौंधी सुगन्ध कितनी भरपूर है। यह देखकर सुखद विस्मय होता है। निश्छलता के तो वे मूर्तिमान विग्रह ही है। कपट, छल, छिद्र से घृणा है, दिखावा और आडम्बर उन्हें कभी नहीं भाता। उनका स्वभाव सहज है। अपना उल्लू सीधा करने के लिए किसी से कपट वेश धर कर नहीं मिलते, मुखौटा नहीं लगाते। सीधे हैं और सीधों से मिलना ही पसन्द करते हैं। किसी को अपना सोपान नहीं बनना चाहते अपने पाँवों पर चलते हैं। अपनी मौलिक प्रतिभा पर पूरा विश्वास है इन्हें। अनुकरण स्वभाव में नहीं है।

'इन्द्र' जी का सीधा–सादा होना, जो आज के जमाने में दुनियादार और व्यवहारिक लोगों की नजर में दोष कहा जायेगा। वे आदर्शवादी हैं। अध्यापक के रूप में, आदर्श शिक्षक, निर्णायक, आसन पर निष्पक्ष जज। कॉलेज में उन्हें अपने सहकर्मी–प्रध्यापकों के मीठे–व्यंग्य भी सुनने पड़ते थे, परन्तु इन्द्र जी अपना कर्तव्य नहीं छोड़ते थे। आज व्यावसायिकता हर क्षेत्र पर किस तरह हावी हो गई है। अब गुरु और शिष्य के संबंध का आदर्शरूप भी कितना विकृत हो गया है। फिर भी अभी कुछ है जो शिक्षक के आदर्श की मशाल संभाले हुए हैं। लोग उन्हें सिरफिरा भले ही कहें पर 'इन्द्र' जी उस गौरवमयी परम्परा को दृढ़व्रती की भाँति निभाये चले आ रहे हैं। अगर 'इन्द्र' जी कही जा रहे हैं 'सर जी नमस्ते' गुरु जी प्रणाम सुनते ही 'इन्द्र' जी केवल प्रसन्न भाव से उन्हें स्नेहाशीष ही नहीं देते, उनसे कुशलक्षेम भी पूछते हैं। गुरु–शिष्य सम्बन्ध की ऐसी स्निग्ध सुगन्ध कहीं–कहीं मिलती है।

इन्द्र जी बड़ों के प्रति अत्यन्त अभिवादनशील रहे हैं। आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री जी विशेष अनुग्रह-पूर्वक उनके यहाँ दो-तीन ठहरे थे। उनके प्रति इन्द्र जी का पितृ तुल्य पूज्य भाव रहा है। आचार्य श्री के चरणरेणु से अपनी कुटिया को भी पवित्र कराने के सौभाग्य को पाने के लिए बाबूराम शुक्ल लालायित थे, किन्तु संकोच-वश अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर पाते थे। 'इन्द्र' जी ने उनका मनोभाव ताड़ लिये। एक दिन संध्या समय आधुनिक हिन्दी के मनीषी सर्जक शलाका पुरुष शास्त्री जी को उनकी पत्नी के हाथों से बनी खीर खिलाकर उन्हें ऐसा प्रशंसा प्रमाण-पत्र दिला दिया। तब से शुक्ल जी पाक-कला की किसी अकुशलता पर विनोदवश भी कभी चोट नहीं कर पाते।

दिल्ली विश्व-विद्यालय की सेवाओं में आने पर अध्यापन के अतिरिक्त इनका अधिकांश समय अपनी पुत्री की देखभाल और काव्य-रचना में व्यतीत होने लगा। लोग देश की राजधानी में आकर बसते हैं, संपर्क बनाने, कैरियर बनाने, पुरस्कार प्राप्ति के क्यू में खड़े होने के उद्देश्य से। 'इन्द्र' जी यहाँ आकर ऐसा कुछ भी नहीं कर पायें। इस बात की इन्हें कोई पीड़ा नहीं। सीमित आमदनी के जरिये परिवार के अधिक से अधिक दायित्व निभाने की आदत तो इन्हें जब से होश संभाला तभी से पड़ चुकी थी। लेखन प्रकाशन की जैसे-जैसे इनकी परिधियों में गहनता और विस्तार आता गया वैसे ही वैसे अनेक पुराने प्रतिष्ठित कवियों के अतिरिक्त समकालीन शब्दकर्मियों के साथ आत्मीयतापूर्ण संबंध भी बने। सर्व श्री क्षेमचंद 'सुमन', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' और प्रभाकर माचवे जी से भावनात्मक निकटता यहाँ आकर ही हुई। दिल्ली आने के बाद ही कनिष्ठ अभिषेक का जन्म हुआ था। विगत 37 वर्षों में जहाँ पुराने दायित्वों का भार कुछ हल्का हुआ, वहाँ इनकी अपनी गृहस्थी की 'कामरी' भीजते-भीजते भारी हुई। इनके बच्चे बड़े हुए, उनके विवाह-शादियाँ हुए और वे सब बाल-बच्चेदार भी हो गये। समय-समय पर इनके फिश्च्युला, पाइल्स और प्रोस्टेट ग्लेण्डस के ऑपरेशन भी हुए। सन् 1988 में शाहदरा प्रवास पूरा हुआ और अब वे गाजियाबाद जनपद के अन्तर्गत साहिबाबाद में एक छत डलवाकर आधी-अधूरी जिन्दगी के दिन पूरा कर रहे हैं।

सन् 1992 से 2001 तक इनकी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी देवी शर्मा अनेक असाध्य बीमारियों से जूझते-जूझते अन्ततः मूक-वधिर पुत्री की सेवा के लिए अकेला छोड़ गयी। सारतः इनकी जीवन-गाथा कुछ विशिष्ट घटनाओं से रहित ही कही जा सकती है।

इनके स्वाभाव में निराला का फक्कड़पन और बाबा नागार्जुन की निश्छलता दोनों ही समायी हुई लगती है। नागरी परिवेश में रहते हुए भी कस्बई जीवन-शैली का निर्वाह किया-वही धोती-कुर्ता, चप्पल और पटे हुए घुटना, वही खजूर का पंखा हाथों में लिये खरैरी बान-शैय्या पर विश्राम, वही शाम को घर लौटते समय हाथों में साग-शब्जी से भरा झोला, वही जनवासे जैसी चाल वही उन्मुक्त ठहाकेदार हँसी और वही बोली में ब्रज-भाषा की मिठास।

साहित्येतर / साहित्य संबंधी

इन्द्र जी ने वर्षा से प्यार करके मधुऋतु के सपने देखे हैं। दिनभर उदास दोपहरियों में भटककर शाम की खामोश नीलिमाओं को ये अपनी आँखों में खोजते हैं। जीवन-भर भीड़ से घिरा रहकर भी अकेलेपन के एहसास को पूरी शिद्दत के साथ जिया है। अकिंचन रहकर भी क्या नहीं पाया है। ये प्यार, आत्मीयता और करुणा की त्रिवेणी जैसी पत्नी के सानिध्य में रहकर हर अभाव में भी भावात्मकता की मंजरियाँ चुनते-चुनते यथार्थ के विषधरों से खेलते-खेलते वैधुर्य की वेदना को सहने का निष्फल प्रयास करते रहते थे। जीवन और साहित्य इनके लिए कभी अलग-अलग नहीं रहे। अतः इनके यहाँ न कुछ जीवनेतर है और न ही साहित्यत्तेर। जीवन चाहे व्यक्ति का हो या समूह का साहित्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब रुप से चित्रित जीवन को ही किया जाता है।

आधी से अधिक उम्र दिल्ली में गुजार देने के बावजूद मन से ये आगरा का ही होकर रहें। क्योंकि वहाँ इनकी जन्मभूमि है, वहाँ रहकर ये बड़े हुए, इनकी शिक्षा-दीक्षा वहाँ सम्पन्न हुई। साहित्य के प्रति अनुरक्ति और कविता के प्रति आसक्ति इन्हें आगरा ने दी। इनके सहपाठी और बाद के मित्र आगरा में ही रहे। दिल्ली यों भी हर एक को रास नहीं आती। आगरा इनके लिए जितना सहज रहा, दिल्ली उतनी ही दूर-दूर और असहज बनी रही। डॉ. नगेन्द्र और डॉ. विजयेन्द्र स्नातक जैसे विद्वान और विपश्चित व्यक्तियों का विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग पर एकच्छत्र आधिपत्य रहा। विशेषकर जो नगेन्द्र जी के निगाह में एक बार चढ़ गया, उसने क्या नहीं पा लिया ? .... और इनके जैसा संकोची, भीरु, आत्मकेन्द्रित और निस्पृह व्यक्ति उनकी छाया से भी दूर-दूर रहा। जीवन में इनको उनसे कुछ मिलाकर तीन-चार औपचारिक-सी मुलाकाते हुईं। इन्द्र जी लग-भग दस वर्ष तक विश्व-विद्यालय में एम.ए. की कक्षाएँ लेने जाते रहे। और फिर एक दिन मन ऊब गया तो छोड़ दिये। पीएच.डी. इन्होंने जान-बूझकर नहीं की। चाहते तो ये

1958–60 में ही कर लेते। इनका मन तो शुरु से ही सर्जनात्मक था। कहीं कोई दम्य या ग्रंथि रही होगी कि उस मार्ग पर नहीं चलना है जिस पर सब चलते हैं। इन्हें जो आनन्द कविता लिखने में आता रहा वह द्वितीय श्रेणी के कार्य (शोध या समीक्षा) में भला क्यों आता ? यों समीक्षात्मक और सैद्धान्तिक गद्य भी इन्हें इतने परिमाण में लिखना पड़ा, जो कई–कई शोध ग्रंथों पर भारी पड़ता है। आज देश के अनेक विश्व–विद्यालयों में इनकी अकिंचन साहित्य–साधना पर लोग पी.एच.डी. हो चुके हैं और होने जा रहे हैं, तो उस क्षेत्र में बेमतलब ये माथा–पच्ची क्यों करते ? इनके कई मित्र इस या उस विश्व–विद्यालय में वाइसचांसलर अथवा विभागाध्यक्ष बन गये। परन्तु उनकी तर्ज पर हाथ–पैर मारने की बजाव 'इन्द्र' जी एकान्त काव्य साधना को ही प्राथमिकता देते रहे। अगर इन्होंने भी वह रास्ता अपनाया होते तो कुछ विदेश यात्राऐं कर आया होता, कुछ बैंक बैलेंस भी भारी हो गया होता। ''सरस्वती पुत्र लक्ष्मी से दूर भागता है'' वाली कहावत इनपर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। इन्होंने विश्व विद्यालय के सम्पूर्ण सेवाकाल में, वेतन के अतिरिक्त मिलने वाली कोई भी सुविधा प्राप्त करने का प्रयास नहीं किये। चाहे वह अवकाश यात्रा भत्ता हो अथवा भवन–निर्माण अग्रिम–राशि, वाहन–खरीद अग्रिम राशि हो और न ही कभी विदेश यात्रा के प्रसंग बनाने–बनवाने में रुचि ली। जब वे आठवीं कक्षा के छात्र थे, कविता का पहला स्रोत घनाक्षरी छन्द के रूप में बह निकला था। वही लगभग पैतालीस वर्षों से अजस्र रूप में प्रवाहित होकर प्रायः डेढ़ दर्जन श्रेष्ठ प्रकाशित काव्य एवं गद्य कृतियों तथा इतना ही नहीं अप्रकाशित रचनाओं से साहित्य की श्री वृद्धि करता हुआ अब भी प्रवाहमान है। हालाकि अब शरीर साथ नहीं दे रहा है, परन्तु उनका सृजनावर्ती मन अब भी साठा पर पाठा है। सेवा–निवृत्ति के पश्चात् वे साहित्य–सृजन के लिए और अधिक समय निकालते हैं।

उनकी भावनाओं एवं संवेदनाओं के संघर्ष से एक नया कलात्मक सृजन जन्म लेता है। इनका कहना है कि मैं भी अगर वह रास्ता अपनाया होता तो तथाकथित ऊँचे लोगों में मेरी भी घुसपैठ हो गई होती, किन्तु अंततः परिणाम सभी उपलब्धियों का शून्य ही निकलता है। इसलिए घर फूक तमाशा देखने वाली पगडण्डी पर ये आँखें मीचे बढ़ते चले गये। अब जिन्दगी उस मुकाम पर आ चुकी है, जहाँ इनको न तो कुछ खो जाने का गम रहा और नहीं किसी उपलब्धि का गर्व या गुमान। अब तो न इनको अपने गाँव और शहर की भी ज्यादा याद नहीं आती। – ''अब तो सब कुछ भूलने छोड़ने और यहाँ फिर कभी न लौटने वाले मोड़ और मरहले तक ये पाँव ले आये हैं।''

'इन्द्र' जी जीवन भर साहित्य के अध्येता और प्रवक्ता रहे हैं। उन्हें स्नातकोत्तर व विश्व-विद्यालय स्तर की कक्षाओं को पढ़ाने का गहन अनुभव रहा है। उन्हें एक प्रध्यापक व कवि के रूप में ही ख्याति प्राप्त नहीं हुई, अपितु अपनी पैनी समीक्षक-दृष्टि के कारण उन्हें एक सफल आलोचक के रूप में भी साहित्य जगत ने मान्यता दी है।

परिवार

'इन्द्र' जी अपने परिवार की कई पीढ़ियों के साक्षी रहे हैं। आजीवकाओं के संदर्भ में आज परिवार भले ही शहर-दर-शहर विखर-बस गया हो, किन्तु जीने मरने और विवाह-शादियों के अवसर पर परिवार के लगभग सभी सदस्य एकत्र हो जाते हैं। उदाहरण के लिए विगत चार वर्षों से इनके 95 वर्षीय पिता जी इनके पास साहिबाबाद में ही रह रहे थे अतः उनसे मिलने इनके छोटे चार भाई और तीन छोटी बहनों का निरन्तर इनके यहाँ आना जाना बना रहता था। इतना ही नहीं उनकी पत्नियाँ और पति भी तथा उनके बच्चे की दो-दो पीढ़ियों का जमावड़ा देख-देख कर पड़ोस के लोग भी आश्चर्यचकित होते रहते हैं। क्योंकि उनके यहाँ परिवार का अर्थ केवल ससुराल से लिया जाता है। फलतः उसकी पत्नी के घर वालों के अतिरिक्त उनके घरों में चिड़ियाँ भी नहीं फटकने पातीं। संयुक्त परिवार के अपने फायदे (भावनात्मक) और नुकसान (आर्थिक) होते हैं। जिन्हें खुशी-खुशी सहने की इनकी तो आदत ही बन चुकी है। क्योंकि इनको अपने से छोटे सात-भाई-बहन हैं, उनके पालन-पोषण पढ़ाई-लिखाई, विवाह-शादियों में इनकी वरिष्ठ व ज्येष्ठ होने के कारण विगत बावन-साल से सक्रिय भूमिका रही है।

इनको अपने परिवार में से धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी देवी शर्मा कैंसर की लम्बी बिमारी से गत 5 अप्रैल 2001 को देहावसान हो गया। इनको तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। पहले चौथे और पाँचवे क्रम पर पुत्र हैं तो दूसरे तथा तीसरे क्रम पर पुत्रियाँ हैं। सबसे बड़े पुत्र राजीव मुंबई में सपत्नीक रहते हैं, जिनको एक पुत्र रोहन है। दूसरे क्रम में जो बड़ी बेटी है, सो हिसार में रहती है। उनको भी एक पुत्री और एक पुत्र है। उनका नाम अनामिका है। इन्द्र जी की अनामिका से छोटी बेटी नीहारिका है, जो बचपन से ही मूक और मानसिक रूप से सर्वथा अविकसित, विकलांग और पराश्रित होने के कारण इनके पास ही रहती हैं। नीहारिका की सेवा और देख-भाल ने इनके जीवन, चिंतन और लेखन-दर्शन को सहिष्णु, वेदनावादी, निराशावादी, यथार्थवादी और सेवापरायण बना दिया है। विगत कई वर्षों से तो इनकी दिनचर्या के साथ उसकी जिन्दगी एकीभूत और

संश्लिष्ट हो चुकी है। इनकी प्रत्येक साँस और धड़कन के साथ वह ऐसे जुड़ गयी हैं कि व कुछ और सोच तथा कर भी नहीं सकते। अब तो केवल उसके जीवन-रक्षण के लिए ही जी रहे हैं। अपनी सभी गतिविधियाँ आशा-आकांक्षाएँ उस तक ही सीमित समर्पित कर रखी हैं। उसकी वजह से हर समय इनको घर की सीमाओं के भीतर ही रहना पड़ता है। क्योंकि उसकी बात, उसकी आवश्यकता और उसकी पीड़ा का भावनात्मक सम्प्रेषण घर के अन्य व्यक्तियों तक पूरा-पूरा हो नहीं सकता।

नीहारिका से छोटे दो भाई हैं – संजीव और अभिषेक। जो दोनों ही विवाहित हैं और 'इन्द्र' जी के साथ ही रहते हैं। संजीव की दो संताने हैं – श्रेया और सूर्या – उसकी पत्नी गृह महिला हैं। अभिषेक दिल्ली हाईकोर्ट में वकालत करता है, जिसको एक पुत्र है – अभिराम। अभिषेक की पत्नी शेफाली की कहानी भी इनके लिए नीहारिका (छोटी बेटी) की कहानी की भाँति ही कम दुःखद और चिन्ताजनक नहीं है। वह इस समय उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर भी घर बैठी हुई हैं। संस्कृत से एम.ए., प्रथम श्रेणी एम.फिल., पीएच.डी. तथा नेट करने के बावजूद बेरोजगार हैं। अब उसने हिन्दी से भी एम.ए. और एम.फिल. भी कर लिया है। नेट (हिन्दी) की परीक्षा भी देती रहती है और दिल्ली-विश्व-विद्यालय से आचार्य जानकी-वल्लभ-शास्त्री के साहित्य का सांस्कृति अध्ययन विषय पर पुनः पी.एच.डी. के लिए कार्यरत है।

इस जान-लेवा मँहगाई के दौर में परिवार की गाड़ी लस्टम-पस्टम चल रही है। उनका परिवार हजार छेदों वाले उस महाजलयान के समान है, जिसपर सैकड़ो यात्री आरुढ़ हैं और 'इन्द्र' जी इस जर्जर बिना पाल पतवार के महायान का थका टूटा विवश कर्णधार हैं। जब तक यह यान बह रहा है, तब-तक सब ठीक-ठाक है, आगे राम जाने।

सुख-दुःख की सहचरी पत्नी के अभाव में जीवन का सातवाँ दशक पूरा करते-करते अब अपने पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह से भी थकते चले जा रहे हैं, किन्तु कोई और जीने का उपाय भी तो नहीं। एक आदर्शवादी अध्यापक और अव्यावसायिक कवि उसपर भी अत्यंत संवेदन-शील व्यक्ति के साथ ऐसा ही होता है। शिकायत किससे की जाय-भाग्य से या भगवान से ?

निजी मित्र

'इन्द्र' जी मित्र शब्द का अर्थ बार-बार जानना चाहते हैं और बार-बार निराशा ही हाथ लगती है। शेक्सपियर से लेकर संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों की परिभाषाएँ भी

इन्होंने पढ़ी परन्तु सौभाग्य से वैसा कोई मित्र इन्हें नहीं मिला। मित्र के नाम पर केवल स्वार्थ-साधक भीड़ से स्वयं को घिरा हुआ पाया है। पढ़ाई के दिनों में स्कूल, कॉलेज और विश्व-विद्यालय में इन्द्र जी अपने सहपाठियों में सबसे आगे और प्रथम-स्थानीय रहते थे अतः इन्हें सभी घेरे रहते थे। तभी कविता लिखने की लत पड़ गई, तो उनके कवि यशः प्रार्थी साथी इन्हें घेरने लगे और इनसे कविताएँ सुधरवा, लिखवाकर लाभ उठाते रहें। प्रध्यापकीय जीवन में जो कठिनतम विषय हुआ करते थे वे इन्हें पढ़ाने को दिये जाते थे। अतः अपने सहकर्मियों का स्नेहभाजन बने रहे। अधिकांश प्रध्यापक निर्धारित पाठ को प्रमोदवश / अज्ञानवश भी पूरा नहीं करते थे, सो उनका बोझ भी छात्रहित में अपने ऊपर ही ले लिया करते थे।

साहित्य जगत में जब कुछ नाम हो गया और एक पहचान बनी तो ऐसे कवियों ने घेरना शुरु कर दिया, जिनकी पुस्तकों की पांडुलिपि-संशोधन, भूमिका लेखन और उनके प्रकाशन की आद्योपान्त जिम्मेदारी भी इन्हें लेनी पड़ी। बाहर से आकर पूर्व सूचना दिये बिना कई दिन तक इनके घर में ठहरना, खाना-पीना उनके लिए एक सामान्य बात थी और इस सब की यातना 'इन्द्र' जी की जेब, बीमार बेटी की देखभाल, पत्नी की क्षीण होती जर्जर शारीरिक स्थिति को झेलनी पड़ती थी। पुस्तके छपती थीं औरों की, प्रकाशक अहसान करते थे इनपर। इस सब का परिणाम यह हुआ कि इन्द्र जी की कृतियाँ प्रकाशन प्रक्रिया में पिछड़ती चली गयी। जिसका खामियाजा भी इन्हें ही उठाना पड़ा।

ऊपर इन्होंने अपने तीन श्रेणियों के मित्रों का गुणगान किये हैं, वे इनके व्यक्तिगत सुख-दुःख से प्रायः दूर-दूर ही रहे हैं। बेटी-बेटों के विवाह पर उनके औपचारिक बधाई पत्र भी आ गये तो समझ लीजिए कि इनको त्रैलोक्य की सम्पदा मिल गई। पत्नी की लम्बी बीमारी और उनके देहवसान पर भी इनके निकटतम मित्र दूर-दूर ही बने रहे, तन, मन, धन से। फिर भी 'इन्द्र' जी अपने उन मित्रों के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं कि जीवन में कभी वैसे दुःख-संकट और बीमारी तथा गर्दिश के क्षण कभी न आऐं।

मित्रों को लेकर इन्होंने जो बातें ऊपर कही हैं, उनके पीछे कोई व्यंग्य करने, बुराई करने या शिकायत करने की भावना नहीं रही है। ऐसा तो चिरकाल से और सभी के साथ होता रहा है। जो बाल-सखा थे, जो सहपाठी थे और जो कविता की भूमि पर सहयात्री थे। यदि उन सभी को ये मित्र मान ले तो इनके बराबर शायद ही कोई खुशकिस्मत होगा। जिसके इतने मित्र हों। इनके ये मित्र इतने कृपालु हैं कि इन्हें शत्रु या विरोधी से अब कोई डर या चिन्ता नहीं होती। सच्चाई तो यह है कि दोस्ती और दुश्मनी दोनों एक ही सिक्के के

दो पहलू हैं। अनुकूल स्थितियों में जो मित्र हैं, वे ही प्रतिकूल परिस्थितियों में शत्रु बन जाते हैं। स्थायी रूप से सब-कुछ, सब-समय एक जैसा नहीं रह पाता।

'इन्द्र' जी का मानना है कि व्यावहारिक धरातल पर मित्रता एक आपसी समझौता है, जो पारस्परिक हितों के सम्पादन, संरक्षण के लिए किन्हीं दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होता है। जब वे हित पूरे हो जाते हैं, तब मित्रता का प्रकरण भी पूरा हो जाता है। देश, काल परिवर्तन के साथ-साथ मित्रता की सूची में फेर-बदल होता रहता है। रूचियों की समानता, सन्निधि, समकालिकता, समशीलता, कार्यक्षमता आदि वे घटक हैं, जिनसे मित्रता में प्रगाढ़ता उत्पन्न होती है और इनके क्षरण की स्थिति में मैत्री के सूत्र भी क्षीण होने लगते हैं।

जीवन दृष्टि

एक अध्यापक अथवा रचनाकार या संवेदनशील कवि भी आम-आदमियों की तरह ही होता है। अन्य व्यक्तियों की भाँति उसकी भी अपनी सुख-दुःख, आशा-अकांक्षा सपने, अभाव, पीड़ा और वेदनाएँ होती हैं, जिनसे वह रो-गा कर रु-ब-रु होता है। बेटी के विवाह में उसे भी भारी भरकम दहेज देना पड़ता है। वह भी राशन की लाइन में लगता है। टैक्सों के त्वचा को छील देने वाले कोड़ों की मार उसे भी सहनी पड़ती है, बच्चों की बीमारियों के समय डॉक्टर का मँहगा इलाज न कर पाने की स्थिति में वह भी झींकता-झुँझलाता है और उच्चतम शिक्षा प्राप्त बेटे-बेटियों बहुओं की बेरोजगारी से वह भी पीड़ित और व्यथित होता तथा समाज में व्याप्त अवसरवाद रिश्वतखोरी, जातिगत संकीर्णता के विष, भ्रष्टाचार, बेईमानी, अन्याय और विशमता से तंग आकर वह भी किसी सामाजिक क्रांति या परिवर्तन का सपना देखता है। कहने का आशय यही है कि एक सामान्य व्यक्ति की भाँति ही एक कवि का जीवन होता है। जिस प्रकार साधारण व्यक्ति को आज जीने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। उसी प्रकार कवि या लेखक या कलाकार भी उसकी जिजीविषा निष्क्रिय बने यह नहीं चाहेगा।

आज वेदान्त, सांख्य मीमांसा, योग वैशेषिक और योग-दर्शन अपनी पूर्वतन प्रासंगिकता को खो चुके हैं। प्राचीन शास्त्रों और स्मृतियों, पुराणों में भी वैसी आस्था नहीं रही है। उपनिषद् और गीता का दर्शन अब महज एक पुरातात्विक दृष्टि के रूप में सीमित हो चुका है। पूर्व और पश्चिम की सम्यताओं में द्रुतगति से आदान-प्रदान और पारस्परिक-विनियोग चल रहा है, समूचा विश्व एक गाँव और एक मण्डी के रूप में बदल

रहा है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के संजाल में आज की जिन्दगी उभर कर रह गयी है। ऐसी स्थिति में किसी जीवन दृष्टि के बारे में सोचना अब पहले जैसा सुनिश्चित नहीं रहा। अहिंसा, सहअस्तित्व, पंचशील, क्षमता और समाजवाद की नीवपर टिके हुए जीवनादर्श अब अपर्याप्त प्रतीत हो रहे हैं। भौतिकता और भोगवाद के विषैले धुएँ ने हमारी उज्जवल जीवन दृष्टि को भी धूमिल कर दिया है। "जियो और जीने दो" (Live and let live) और अधिक से अधिक कल्याण (The greatest good of the greatest number) के जीवनादर्श को हमें बड़े-से-बड़ा मूल्य चुकाते हुए सर्वमंगलवादी दृष्टि को विकसित करना होगा। यथार्थ अपने आप में एक भौतिक आवश्यकता तो हो सकती है, परन्तु मनुष्य उदरभरि शिश्नजीवी मात्र तो नहीं है, पशु की भाँति। उसे अपने जीवन-यात्रा को सुगम बनाने के लिए किसी न किसी दृष्टि को अपनाना ही होगा। अन्यथा अंधी और दिशाहीन-दौड़ हमें विवश के गर्त में ले जाने के लिए अपना सर्वग्रासी मुख तो फैला ही रही है।

व्यक्तिगत रूप से इन्द्र जी को 'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्' से बड़ी कोई जीवन दृष्टि नहीं लगती। यह जीवन दृष्टि तभी तक पल्लवित, पुष्पित और फलित होती रहती है जब-तक कि मनुष्य के अन्तः करण में भेद-भाव की स्थिति जन्म नहीं लेती। करुणा, मुदिता और मैत्री आदर्श जीवन दृष्टि के पुष्ट आधार होते हैं। दीप की भाँति ज्योतिदान पुष्प की भाँति गन्धदान, नदी समुद्र और मेघों की भाँति तृप्तिदान करना उदार जीवन-दृष्टि के निर्मायक तत्व होते हैं। थोड़ा पाकर अधिक लौटाने से बड़ी कोई जीवन दृष्टि नहीं होती। मन, वाणी और क्रिया का तादात्म्य श्रेष्ठ जीवन दृष्टि का पर्याय है।

वर्तमान साहित्य के प्रति आपकी राय

साहित्य प्राचीन हो या मध्ययुगीन अथवा वर्तमान, उसका प्रमुख उद्देश्य होता है लोकरंजन के माध्यम से लोक-मंगल की स्थापना करना। साहित्य में प्रयुक्त यह 'लोक' शब्द बहुत व्यापक और दूरगामी अर्थ रखता है। 'लोक' में सार्व भौम प्राणियों को अन्तर्मुक्त किया जा सकता है। उसमें स्थूल और सूक्ष्म, स्थाणु और जंगम सभी को लिया जा सकता है। सर्वधर्म समभाव / सहभाव साहित्य का सदा से स्पृहणीय आदर्श रहा है, किन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति के भीतर संकीर्णता आती गयी है वैसे ही उसके इंसानी, समाजी और साहित्यिक सरोकारों में भी बदलाव आया है। वेद और उपनिषद में जिस सत्य का अन्वेषण किया गया था। वह 'शिव' और 'सुन्दर' भी था। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' उसके

चिन्तन का मूल आधार था। साहित्य सबको जोड़ने वाला सर्व हितकारी माध्यम था, किन्तु आज वैसी बात नहीं रही। आज तो पूर्वी साहित्य, पाश्चात्य-साहित्य, हिन्दू-साहित्य और इस्लामी-साहित्य, पुरुष-साहित्य और स्त्री-साहित्य, सवर्ण-साहित्य और दलित-साहित्य, प्रादेशिक-साहित्य और अन्तर-राष्ट्रीय साहित्य जैसे परस्पर विरोधी साहित्यिक मतवादों और शिविरों और खेमों का बोल-बाला है। पारस्परिक सौहार्द के स्थान पर गला-काट प्रतिस्पर्धा का आज के साहित्य में उदग्र स्वर सुनायी पड़ रहा है, जो अपने आप में चिंत्य है।

पहले साहित्यकार कुछ मूल्यों आदर्शों और आस्थाओं की प्रतिष्ठा के लिए लिखता था, आज हम मूल्यहीन, आदर्शहीन और आस्थाहीन होते जा रहे हैं। साहित्य का सृजन-चक्र अपनी सर्वतोभद्र धुरी से उतरे हुए खण्डित रथचक्र की भाँति हो गया है।

पुराना साहित्यकर्मी वर्षों तक एकान्त में मौन-साधना करता था आज का लेखक हाथों-हाथ स्वीकृति, लोकप्रियता और उपलब्धि के सभी शिखरों पर आसीन होने के लिए व्यग्र दिखायी देता है। जिस प्रकार आज ऐसी खेती-बाड़ी पर बल दिया जाता है जो त्वरित फल-प्रदायिनी हो, उसी प्रकार आज का साहित्यकार भी तत्काल अनुकूल फल पाने की दिशा में हाथ-पैर मार रहा है, जो उचित नहीं है।

पुराना साहित्य देश-काल की सीमा में बँधा होकर भी देशातीत और कालातीत होता था। सार्वजनिकता और सार्वभौम हित के शुभंकर तत्व उसमें विद्यमान थे। आज का लेखन पत्रकारोचित प्रचार-प्रसार में विश्वास रखने के कारण क्षणजीवी होता है। वर्तमान लेखन में जो अस्वीकारवाद और निषेध का तत्व विकसित हो रहा है। उससे बचने की आवश्यकता है। केवल पैसा, पद, पुरस्कार प्राप्ति या विदेश-यात्रा के अनुकूल अवसर जुटा लेने के लिए लिखा गया साहित्य बिकाऊ तो हो सकता है, टिकाऊ कदापि नहीं होता। कुछ सिखाने के लिए पहले व्यक्ति को स्वयं सीखना पड़ता है क्या वर्तमान साहित्यकार में इतना धैर्य लक्षित होता है। अपनी पहचान बनाने के लिए दूसरे की अस्मिता को खारिज अथवा अपदस्त करने की प्रवृत्ति साहित्य में कितनी स्पृहणीय होती है ?

इन्द्र जी की राजनीतिक दृष्टि ? यदि है ?

'इन्द्र' जी अपने अध्ययन काल में (बी.ए.में) भी हिन्दी और संस्कृत भाषा और साहित्य को ही राजनीति शास्त्र पर तरजीह दी थी। यह अलग बात है कि प्राप्तांक उसमें

भी प्रथम श्रेणी के ही आये थे। राजनीति से बचकर रहना और अपने साहित्य को राजनीति से बचाये रखना इनकी एक आदर्श स्थिति तो हो ही सकती है, परन्तु यथार्थतः राजनीति से कोई भी बच नहीं पाता। यदि आप वयस्क मताधिकार प्राप्त है, तो किसी न किसी राजनैतिक विचारधारा को मानने वाले व्यक्ति को ही मतदान करेंगे। यह अलग बात है कि आज सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति में आकाश-पाताल का अन्तर आ चुका है। ये ब्रिटिश सम्राज्यवाद के अन्तर्गत पराधीन भारत की विवश-निरुपाय और अकिंचन स्थितियों को भी देखे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए, हुए स्वाधीनता संग्राम का भी साक्षी रहे हैं। आजाद हिन्दुस्तान के सपने भी देखे थे। उन दिनों महात्मा गाँधी और नेहरू जी को देश की जनता देवदूत के रूप में ग्रहण करती थी। कुछ दिनों बाद गाँधी जी की नृशंस हत्या के दुष्परिणाम को भी इन्होंने देखा और राजनीतिक स्वप्नदर्शी नेहरुजी की व्यवस्था और उसकी क्रमिक उद्योगपति को भी देखा। मार्क्सवाद को भी पढ़ा। इन्होंने प्रगतिशील साहित्य को भी पढ़ा-समझा और उसकी तर्ज पर साहित्य-रचना भी की। जयप्रकाश जी की सम्पूर्ण क्रांति को विफल होते भी देखा, राष्ट्रीय स्तर पर लगायी गयी, 'इमरजेंसी' और फिर विश्व की सर्वोच्च राजनैतिक शक्तियों के पतन को भी 'इन्द्र' जी ने देखा। रुस के संघ-शासन को खण्ड-खण्ड होते देखा और अपराजित अमेरिका पर किया गया आतंकी आक्रमण को, फिर उसी अमेरिका द्वारा किये ईराक पर हमले को भी इन्होंने देखा है। ऐसी स्थिति में किस राजनैतिक विचार-धारा पर व्यक्ति की आकांक्षाएँ केन्द्रित रह सकती है।

पिछली अर्ध्दशती में कांग्रेस, कम्यूनिस्ट जनसंघ और समाजवाद की व्यवस्थाओं को भी बनते-बिगड़ते देखा हैं। आम-आदमी को तो केवल देखना और सहना ही है। राजनीति-अर्थनीति और साम्प्रदायिक तथा धार्मिक शक्तियों द्वारा किये जाने वाले प्रलय-ताण्डव से बचकर कोई भी नहीं निकल सकता। राजनीतिक एक ऐसा घातक और विनाशक उपकरण है, जो परमाणु और उद्‌जन बमों की ध्वंस-कारिणी क्षमता से भी अधिक खतरनाक है। श्रेष्ठ साहित्य कभी राजनीति का अनुगामी नहीं होता है। सत्य तो यह है कि साहित्य और राजनीति में पूर्व तथा पश्चिम का अन्तर होता है। साहित्य व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है, तो राजनीति परस्पर भेद-भाव तोड़-फोड़ और अलगाव के रास्ते पर ले जाती है।

'इन्द्र' जी कहते हैं कि मेरी अपनी कोई राजनीति दृष्टि कभी नहीं रही। मैं राजनीतिक दृष्टि से मानवीय दृष्टि और साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि को अहम चीज मानता

हूँ। जैसे राजनीति के मंच पर महत्वाकांक्षी लोग 'आयाराम' और 'गयाराम' की भूमिकाएँ निभाते दिखायी पड़ते हैं। वैसे मेरी रचनाओं में गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले राजनीतिक विचार तलाशने पर आपको निराशा ही हाथ लगेगी।

धर्म के प्रति दृष्टिकोण

लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए कहा जाता है कि वह एक ऐसी मानवीय व्यवस्था है जो मानव निर्मित और मानवीय हित का संवहन करती है। धर्म को इसी भाँति परिभाषित किया जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। लग-भग पाँच-छः अरब की जनसंख्या वाले इस विश्व में मनुष्य ने अपने जीवन को एक विशेष प्रकार की जीवन-शैली में जीने के लिए नाना धर्मों की कल्पना कर रखी है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि नाना प्रकार के धर्म इस कथन के परिचायक हैं। धर्म का परोक्ष और प्रत्यक्ष संबंध व्यक्ति तथा समाज के प्रति ही है। इस सृष्टि में मनुष्य का यह धर्मत्व ही अन्य प्राणियों की तुलना में विशिष्ट, महान और श्रेष्ठ सिद्ध करता है। जिस प्रकार भारतीय चेतना क्षण-प्रति-क्षण स्पंदनशील और जीवन्त होती है।उसी प्रकार धर्म भी सतत् जीवन्त, प्रवाहमान और सर्वमंगलविधायक होता है। सभी धर्मों का मूल है कर्तव्य कर्म में प्रवृत्ति और अकर्तव्य कर्मों से निवृत्ति। यही निवृत्ति परमसुख अथवा कैवल्यपद की दिशा में व्यक्ति को गतिमान बनाती है। धर्म का आशय है प्रत्येक प्राणी का ऐहिक और परलौकिक उत्कर्ष इसके विपरीत जो कुछ भी व्यापक अथवा समष्टिगत मानव मंगल के मार्ग में बाधक है वही अधर्म है। साहित्य और संस्कृति से धर्म को पृथक करके नहीं देखना चाहिए। केवल भोगवादी, संग्रहवादी, सुविधावादी दृष्टि हमें धर्म विमुख बना देती हैं।

'इन्द्र' जी अपने बीस-इक्कीस वर्ष के साहचर्य में कभी किसी पूजा गृह में जाते नहीं देखे गये। घर में ही शायद किसी देवी-देवता की पूजा अराधना करते हों, परन्तु अपने सद्व्यवहार से ही घर और बाहर को एक शान्त और सौहार्दपूर्ण मंदिर बनाने के लिए वे सदैव प्रयासरत दिखाई पड़ते हैं। सबसे प्रेम-पूर्ण-व्यवहार यदि धर्म है तो वे धर्मशील हैं, परार्थ-साधना यदि धर्म है तो वे धार्मिक हैं, सारस्वत-साधना यदि अध्यात्मक है तो वे अध्यात्मिक हैं। इनका धर्म एक-मात्र मानव धर्म है। 'इन्द्र' जी ने कभी अपने लिए जीना सीखा ही नहीं। जब आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के पाँव का ऑपरेशन हुआ था। वे अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान दिल्ली में भर्ती थे। इन्द्र जी

उनके विषय में कितने चिन्तित रहते थे। धर्म का अर्थ है शुभकर्म में प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति सत्य, शिव और सुन्दर के आधीन से ही सार्थक और सम्पूर्ण बन पाती है। जो धर्म को धारण कर-के जीवन निर्वाह नहीं करता वह पशु तुल्य है यद्यपि पशुओं का भी अपना एक धर्म होता है। आज जिस धर्म निरपेक्षता का ढिंढोरा पीटा जा रहा है वह संकुचित राजनीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र की देन है जिसे पश्चिम में secular के नाम से जाना जाता है। हमारी सभ्यता और संस्कृति में तो धर्म और कर्म को अभिन्न माना गया है। कर्म-हीन धर्म और धर्मच्युत कर्म की कल्पना ही अनिष्ट की जड़ है।

'इन्द्र' जी का कहना है कि मुझे जितना मनुष्य होने का गर्व है उतना ही धर्मनिष्ठ होने पर प्रसन्नता होती है। मैं स्वयं को कभी अधर्माचारी नहीं कहलाना चाहूँगा। धर्म कभी घृणा विद्वेष और वैरभाव के बीज नहीं बोता। आज जो मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों और गिरिजाघरों में एक दूसरे के धर्म के विरुद्ध-विनाशकारी षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, वे साम्प्रदायिक ठेकेदारों द्वारा किये जाने वाले राजनीति हथकण्डे ही अधिक हैं। मंदिरों को ध्वस्त करते मस्जिद बनाने अथवा पादरियों को जलाने से धर्म का प्रचार नहीं होता। व्यक्ति को एक दूसरे की धार्मिक आस्था का सम्मान करना सीखना चाहिए। सर्वधर्म समभाव ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। जिहाद के नाम पर लाखों व्यक्तियों का रक्तपात करने की इजाजत कौनसा धर्म देता है।

धर्म को लेकर हमें मध्ययुगीन हिंसक दृष्टि का परित्याग करते हुए अपने भीतर एक उदात्त और उदार दृष्टि को जगाना होगा।

नये लेखकों /कवियों को संदेश

कोई भी मौलिक सर्जना के प्रति समर्पित लेखक अथवा कवि न तो पूर्णतः नया होता है और न ही एकान्ततः पुराना। वह पुरातन से प्रेरणा लेकर ही नयी सर्जना में प्रवृत्त होता है। क्योंकि हमारे वर्तमान की जड़ें अतीत में ही गहरे तक निहित रहती है और हम अतीत तथा वर्तमान के सहारे ही एक सुन्दर और आदर्श भविष्य की संकल्पना कर सकते हैं। श्रेष्ठ लेखन काल की सीमाओं से बँध कर भी कालातीत होता है। संदेश अपने आप में एक प्रकार का उपदेश या आदेश ही होता है। कवि का यथासंभव इन तीनों से ही परहेज करना चाहिए। यह काम तो पैगम्बरों, उपदेशकों या राजनैतिक व्यवस्थापकों का है। कवि यदि ऐसा करता है, तो उसकी रचना निश्चय ही अपनी सौन्दर्य-प्रसविनी कला के शिखर से अधोगत हो जायेगी। संदेश, उपदेश और आदेश को स्वयं कविता के भीतर

से सहजरूप में समुद्गत होना चाहिए। कालिदास के काव्य में ये सभी तत्व अन्तर्निहित हैं त्वचा और रोमराजि के सान्निध्य की भाँति। कविता में इनको ऊपर से आरोपित करना उचित और संगत नहीं होगा। कविता की यही विशिष्टता होती है कि वह बिना कहे ही संकेतों के माध्यम से सब कुछ कह देती है। अच्छी कविता अभिव्यंजनात्मक होती है, वर्णनात्मक नहीं। ''भरे भौन में करत हैं नैनन् ही सों बात।'' अथवा 'नेक कही बैनन् अनेक कही सैनन् सों, रही-सही सो हू कहि दीनी हिचकीनु सों' वाली उक्ति कविता पर लागू होती है।

सब होते हुए भी कुछ ऐसा है, जो नये लेखकों, कवियों के समक्ष कहा जाना अनुचित नहीं होगा, यथा-

श्रेष्ठ कवि को बहुज्ञ होना चाहिए। वहुज्ञता दो प्रकार से ही संभव है, प्राचीन, पूर्वतन और समकालीन अन्य रचनाकारों की कृतियों के गम्भीर अनुशीलन तथा वाङ्मय के विविध विषयों के व्यापक अध्ययन के माध्यम से हिन्दी भारतीय भाषाओं और विदेशी भाषाओं के साहित्य का अधिगम भी इस दिशा में वांछित है। बहुज्ञता जितनी अध्ययन संभाव्य है उतनी ही बहिर्जगत् की खुली आँखों से जानकारी भी आवश्यक होती है। 'कागद की लेखी' और 'आँखिन की देखी' में सामंजस्य रखना अभिप्रेत होगा। 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' के अभाव में लेखन अथवा कविकर्म में सार्थकता नहीं आ पाती।

लेखन-कर्म का सीधा संबंध भाषा से होता है और भाषा का सम्यक ज्ञान आते-आते ही आ पाता है। श्रेष्ठ संस्कारवती भाषा के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं की सरस अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो पाने में लेखक को अपनी समूची जिंदगी का हनन करना होता है। कॉफी हाउसं में लम्बे-लम्बे कुर्ते और पैंट पहनकर, मोटे फ्रेम की चश्मा लगाकर कंधों पर झोला लटकाकर हाजिरी लगाने भर से कोई व्यक्ति लेखक नहीं बन जाता।

महज पत्रिकारों वाले लटके-झटके सीख लेने से अथवा कवियों की श्रेणी में शामिल हो जाने वाले व्यक्ति दूर से ही नमस्कार के पात्र हैं। आज विदेशों की हवाई-यात्रा करने वाले यूरोपीय अथवा अमेरीकन देशों में सम्पन्न होने वाले विश्व-हिन्दी सम्मेलनों में उपस्थित होने मात्र से लोग स्वयं को साहित्यकार समझने लगते हैं। सूर, तुलसी, विद्यापति, मतिराम और पद्माकर से लेकर 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और

निराला अथवा मुक्ति-बोध प्रेमचंद ने कितनी विदेश यात्राएँ की थीं और कितने सम्मान अर्जित किये थे ?

'इन्द्र' जी आज भी साहित्य-साधना को नंगे पाँव तलवार की धार पर चलने से कम नहीं मानते। व्यवसाय वृत्ति और ग्लेमर के पीछे दौड़ने से साहित्यकार ने अपना भौतिक रुतबा अवश्य उपार्जित किया हो, किन्तु उससे साहित्य की क्षति अवश्य हुई है।

इनके व्यक्तित्व के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि इन्सानों का नहीं बल्कि देवताओं का जिक्र किया जाय और देवताओं की, राजा की चर्चा न हो, यह असम्भव ही है। अंतरिक्ष में निवास करने वाले एक प्राचीन वैदिक देवता 'इन्द्र' को देवताओं का राजा बताया गया है। शास्त्रों के अनुसार उसे अत्यधिक ऐश्वर्यवान्, महानतम विभूति, सुख सुविधाओं से सम्पन्न अत्यन्त श्रेष्ठ व बड़ा कहा गया है। किसी के साथ इतने अधिक विशेषण लगे हो तो निश्चित ही उसके गौरव व गरिमा के आकर्षण दूसरे को अपने में तत्काल बाँध लेंगे। लेकिन इसके विपरीत इस चकाचौध वाली दुनिया में नाम का साम्य और आम-आदमी नागरिक की हैसियत रखने वाला एक साहित्यिक अदना-सा व्यक्ति यदि देवेन्द्र हो तो निश्चित ही उस साहित्य के राजा 'इन्द्र' यानी देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की उपलब्धियों की ओर भी सबका ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ।[1]

यह 'देवेन्द्र' जी 'इन्द्र' जी के नाम के ही देवेन्द्र या इन्द्र हैं, इन्हें साहित्य के राजा बनने की न कोई ललक है, न ही मन में कोई आकांक्षा। इस ललक और आकांक्षा के बिल्कुल विपरीत भौतिक सुख-सुविधाओं के ऐश्वर्य से दूर शब्दों की साधना में लीन अपने गीतों की गमक और चमक से बारह आदित्यों में से एक सूर्य की भाँति अपनी रचनाओं से रंग-बिरंगी इन्द्र-धनुषी छवियाँ बिखेरते विभूतिपरक भाषा और छन्द की ऊँचाई को आत्मसात कर उसकी गरिमा से सम्पन्न-युक्त अपने बड़ों के प्रति अत्यधिक आदरणीय भाव और अनुजों पर स्नेह लुटाते हुए हृदय से उदार व स्नेहसिक्त मानवीय गुणों में श्रेष्ठ तथा कवियों को जीने और समझाने में आदमकद रखने वाले और अपने से लगने वाले साहित्य के राजा ही कहे जा सकते हैं। देवेन्द्र जी यानी कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'। इनकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे चाहे किसी समारोह के मंच पर बतौर अध्यक्ष विराजमान हों या घर में हो उनका व्यवहार अपने सभी परिचितों से एक समान ही होता है। इन्हें किसी प्रकार का संकीर्ण भाव पसन्द नहीं है।[2]

साहित्य के साधक 'इन्द्र' जी का व्यक्तित्व भी उनके कृतित्व की भाँति सहज और मोहक है। उनकी करुणा, आत्मीयता, निश्छलता, स्नेह, कर्मठता अनुकरणीय है।

ये एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो अपना सारा-दर्द छिपाकर दूसरे के दर्द से विचलित होते हैं। वे अपने जीवन के संघर्षों से गुजरते हुए भी बाहर से शान्त रहते हैं। मुस्कुराते रहते हैं। इनके व्यक्तित्व में भी भारतीयता की छाप और मनुष्यत्व के दिग्दर्शन होते हैं।[3]

अतः 'इन्द्र' जी के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि हृदय से निर्मल, पावन, स्पष्टवादी, खेमेबंदी से दूर, एकान्त साधना के विश्वासी अपने आस-पास में सिमटे रहने वाले, लेकिन सामयिक परिस्थितियों को झेलते-समझते और उनका हौसला से सामना करते हुए बेहद जागरुक रचनाकार हैं। पारिवारिक जटिलताओं और अपने खराब स्वास्थ्य के बावजूद कविता को पूरी ईमानदारी से जीने वाले कवि हैं। इनके व्यक्तित्व में असाधारण प्रेरक व चुम्बकीय शक्ति है। व्यक्ति के रूप में श्रद्धेय 'इन्द्र' जी सम्पूर्ण न होते हुए नहीं लगते, जैसे द्वितीया का शशि पूर्णाकार न होते हुए भी चन्द्रमा ही कहलाता है। उसकी अपूर्णता भी उसकी कला का ही एक अंग है। इनकी तथाकथित दुर्बलताएँ भी इनके व्यक्तित्व को निखारती है। जैसे-तीखे नैन-नक्श सपाट चेहरे को सौन्दर्य प्रदान करते हैं। इनका सुदीर्घ जीवन संघर्ष की गाथा है तथा इनके वैयक्तिक सोच और लेखकीय चिन्तन का साक्षी है।[4]

<u>**संदर्भ सूची**</u>

1. संस्मरण से
2. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' व्यक्ति और अभिव्यक्ति
3. वही वही पृ. 43
4. वही वही
5. वही वही